जैनतत्व-ज्ञान की रूप-रेखा

श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय पुष्प २६६

जैन तत्त्व ज्ञान की रूपरेखा

लेखक

उपाचार्य श्री देवेन्द्र मुनि

प्रकाशक

श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय

उदयपुर

सुगम साहित्य माला के अन्तर्गत प्रकाशित

पुस्तक का पुनः संस्करण

☐ प्रकाशक

श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय

शास्त्री सर्कल, उदयपुर

☐ द्वितीयावृत्ति

दिसम्बर १९८८

मार्गशीर्ष २०४५

☐ मुद्रण

दिवाकर प्रकाशन

२०८/२/A ७ एम. जी. रोड

अवागढ़ हाउस आगरा २८२००२

शक्ति प्रिंटर्स, आगरा—३

लागत मूल्य मात्र एक रुपया

प्रकाशकीय

'बिन्दु में सिंधु समाय' की कहावत कभी-कभी बहुत सहज रूप में चरितार्थ होती है। जैन तत्त्वज्ञान का अक्षय सागर जो हजारों पृष्ठों में भी परिपूर्ण नहीं बताया जा सकता उसको कुल २०-२२ पृष्ठों में बता पाना तो असंभव ही है किंतु विशेषता उसमें है कि अक्षय ज्ञान सागर को शब्दों के लघुघट में भरकर प्रस्तुत किया जाय और उसमें संपूर्ण रसास्वाद का अनुभव हो।

उपाचार्य श्री देवेन्द्र मुनि जी ने प्रस्तुत पुस्तक में यही चमत्कार किया है। उनका ज्ञान मात्र पुस्तकीय नहीं आत्मसात् ज्ञान है, अनुभव रस में रमा हुआ है इसलिए वे बड़ी से बड़ी गहन बातों को बहुत ही अल्प शब्दों में और बड़े सहज रूप में प्रस्तुत करने में समर्थ हैं। प्रस्तुत लघु पुस्तिका में

भी जैन तत्त्वज्ञान की रूप रेखा के अनुसार बहुत ही सुन्दर परिचय दिया है।

यह पुस्तक श्रमण संघीय सलाहकार श्री रतन मुनि जी द्वारा प्रेरित सुगम साहित्य माला के अन्तर्गत प्रकाशित हुई किंतु सामग्री जनता के लिए अतीव उपयोगी होने से इसकी अधिक मांग देखकर अब हम अपने संस्थान से इसका द्वितीय संस्करण प्रकाशित करते हैं।

आशा है पाठक लाभ उठायेंगे।

चुन्नीलाल धर्मावत

कोषाध्यक्ष—तारक गुरु जैन ग्रन्थालय

उदयपुर

अर्थ सहयोगी

प्रस्तुत पुस्तक के प्रकाशन में गुरुभक्त उदार हृदय सुश्रावक **लाला त्रिलोक चन्द जी जैन** ने अर्थ सहयोग प्रदान किया है तदर्थ हम उनके आभारी हैं।

आपका पता है—

लाला त्रिलोक चन्द जैन

२४/४ मैन रोड, शक्ति नगर

दिल्ली ७

प्राक्कथन

ऋते ज्ञानान्नमुक्ति :— ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं, यह शाश्वत सिद्धान्त है। भगवान महावीर ने कहा है—

नादंसणिस्स नाणं
नाणेण बिना न हुंति चरण गुणा।

सम्यग् श्रद्धा के विना ज्ञान नहीं और ज्ञान के बिना चारित्र आदि गुण नहीं। गुण के बिना मोक्ष नहीं। अतः मोक्ष या मुक्ति का मुख्य साधन ज्ञान है।

जैन तत्त्व ज्ञान संसार के सभी तत्त्व ज्ञानों में अपना विशिष्ट स्थान रखता है। इसकी रूपरेखा पूर्णतः युक्तिसंगत और विज्ञान सम्मत है। आज के

वैज्ञानिक युग में जैन तत्त्वज्ञान का विशेष महत्व है कि हजारों शताब्दी पूर्व का भारतीय तत्त्वज्ञान आज भी सत्य की कसौटी पर खरा उतर रहा है।

हमारे श्रमण संघीय सलाहकार श्री रतनमुनि जी विद्वान विचारक और बहुत मधुर स्वभाव के सन्त हैं। आपके सुशिष्य श्री सतीशमुनिजी ने मुझसे आग्रह किया कि जैन तत्त्व ज्ञान पर एक निबन्ध तैयार कर दूं जो सुगम साहित्य माला के अन्तर्गत प्रकाशित हो जाय। तदनुसार मैंने यह निबन्ध तैयार किया है। आशा है कि सभी के लिए उपयोगी सिद्ध होगा।

—उपाचार्य देवेन्द्र मुनि

जैन तत्त्वज्ञान की रूपरेखा

मानवीय जिज्ञासा

जिज्ञासा मानव की ऐसी विशिष्ट मूल प्रवृत्ति है जो अन्य जीवधारियों से उसकी अलग पहचान बनाती है और यही मानव द्वारा अर्जित/उपार्जित समस्त ज्ञान-विज्ञान आदि का मूल स्रोत है।

जिज्ञासा वृत्ति मानव की ही विशेषता है। छह माह का ही मानव-शिशु चन्द्रमा की ओर लपकता है, आस-पास की वस्तुओं को उठा लेता है, उन्हें जानने-पहचानने का प्रयत्न करता है। ३ साल का शिशु माता-पिता, अभिभावकों और बड़े भाई-बहनों के आस-पास जो भी वस्तु देखता है,

उसके बारे में विभिन्न प्रकारके प्रश्न पूछ-पूछ कर न उन्हें परेशान कर देता है ।

यह सब जिज्ञासा वृत्ति तो है ही । जबकि पशु-समाज में जिज्ञासा नाम की कोई वृत्ति ही नहीं होती है । जिस वातावरण में पैदा हुए, उसी में रम गये, भूख-प्यास की तृप्ति कर ली और उसी स्थिति में जीवन का अन्त हो गया ।

लेकिन मानव इन सबसे अलग है । बचपन से लेकर जीवन पर्यन्त उसकी जिज्ञासा प्रबल रहती है । उसके मन-मस्तिष्क में भाँति-भाँति के प्रश्न उठते रहते हैं । वह स्वयं अपने आपको और वातावरण को जानना चाहता है । ज्ञान-विज्ञान की परत-दर-परत खोलना चाहता है । उसके मन में जिज्ञासा घुमड़ती है—मैं क्या हूँ ? कहाँ से आया हूँ ? क्यों आया हूँ ? मेरे जीवन का उद्देश्य क्या है ? मैं कर्म क्यों करता हूँ ? क्या मेरे कर्मों का फल मिलेगा ? कैसा फल मिलेगा ? मैं रोगी क्यों हो

मर गया ? अमुक व्यक्ति क्यों गया ? मृत्यु क्या होती है ? मरने के बाद क्या होता है ?

इसी प्रकार उसके मन में प्रश्नों की एक अन्तहीन श्रृंखला चलती रहती है।

इसीलिए तो कुछ उपनिषदों का प्रारम्भ ही **'अथातो आत्मजिज्ञासा' 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा'** जैसे वाक्यों से हुआ है।

अध्यात्म सम्बन्धी मानव जिज्ञासा

मानव मस्तिष्क में घुमड़ते इन प्रश्नों को **नौ** वर्गों में वर्गीकृत किया जा सकता है—

१. मैं स्वयं क्या हूँ ?

२. मेरे चारों ओर दिखाई देने वाला **विश्व** क्या है ?

३. मुझे जो सुख की उपलब्धि हो रही है, उसका कारण क्या है ?

४. मेरे जीवन में जो आपत्ति, दुःख, क्लेश;

संकट आदि आ गये हैं और मुझे अनचाहे ही भोगने पड़ रहे हैं, इनका भी कोई कारण है क्या ?

५. क्या यह दु:ख मेरे ही किये हुए हैं ? यदि ऐसा है तो मैंने दु:खों का सर्जन कैसे किया ?

६. यह दु:ख मुझसे अथवा किसी मानव से क्यों और कैसे चिपकते हैं ?

७. क्या ऐसा संभव है कि नये दु:खों का उपार्जन न हो ? यदि ऐसा हो सकता है तो उसका उपाय क्या हो सकता है ?

८. क्या इन दुखद बंधों को पृथक् किया जा सकता है ? उसका उपाय क्या है ?

९. क्या इन सुख-दु:खों से पूर्ण रूप से छुटकारा हो सकता है ?

सामान्यरूप से अध्यात्मजिज्ञासु के मन-मस्तिष्क में यह नौ प्रकार के ही प्रश्न उठा करते हैं। इन प्रश्नों का समाधान विभिन्न मनीषियों ने अपनी-अपनी विचारणा और मेधा के अनुसार दिया है।

जैन तीर्थंकरों, महर्षियों ने अपनी सूक्ष्म निरीक्षण समीक्षण शैली में इनका जो समाधान दिया वही जैन तत्त्वज्ञान की रीढ़ और आधारभूमि है तथा उसी को जैन तत्त्ववाद (Jain Metaphysics) कहा जाता है।

जैन तत्त्ववाद

उपरोक्त नौ प्रश्नों के उत्तर में जैन दर्शन ने जो समाधान दिये, वे क्रमशः निम्न प्रकार हैं—

१. तुम जीव हो (जीव तत्व)।

२. इस विश्व की रचना में दो तत्व प्रमुख हैं—(जीव और अजीव)।

३. सुख का कारण पुण्य है। (पुण्य तत्व)

४. दुःख का कारण पाप है। (पाप तत्व)

५. दुःख आत्मा ने स्वयं ही अपने प्रमाद से किये हैं। (आस्रव तत्व)

६. कषाय-राग-द्वेष आदि के कारण कर्म

दुखदायी अथवा सुखदायी आत्मा से चिपके हुए हैं। (बंध तत्व)

७. नये कर्मों का आस्रव (आगमन) रुक सकता है। (संवरतत्व)

८. पहले बंधे हुए कर्मों को आंशिक रूप से पृथक करने का उपाय है। (निर्जरा तत्व)

९. संसार के सुख-दु:खों से पूर्णतया छुटकारा पाया जा सकता है। (मोक्ष तत्व)

मानव की उपर्युक्त नौ मूल जिज्ञासाओं का मौलिक समाधान इन्हीं नव तत्व दर्शन में प्रकट हुआ है।

आइये, अब जैन तीर्थंकरों द्वारा प्रतिपादित इन नव तत्वों के स्वरूप को भलीभाँति समझने का प्रयास करें।

१. जीव तत्व

जीव तत्व नौ तत्वों में प्रमुख है। शेष आठ तत्व इसी के इर्द-गिर्द घूमते हैं। इसी के कारण

पुण्य-पाप, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष तत्व हैं। यही पुण्य-पाप का उपार्जन करता है, आस्रव और बंध करता है, संवर और निर्जरा भी इसी की प्रक्रिया है तथा यही मुक्त होता है। इसीलिए आठ तत्वों को जीव तत्व का विस्तार कहा गया है।

जीव के लक्षण

जीव का लक्षण है—उपयोग, चेतना। यों जीव सच्चिदानन्द है। यही सत् है, अर्थात् इसका चिरन्तन अस्तित्व है। ऐसा नहीं कि पृथ्वी आदि के विकार से इसकी उत्पत्ति हो जाती है, अपितु यह स्वतन्त्र तत्व है।

जीव अनादि है, अविनाशी है, अक्षय है, ध्रुव है, नित्य है, और शाश्वत है—सदा काल रहने वाला है।

जीव वह है जो जीवित रहता है; प्राण धारण करता है— **जीवति प्राणान् धारयतीति जीवः।**

प्राणों का धारण तथा चेतना ये जीव के प्रमुख गुण हैं। यह गुण अन्य किसी तत्व अथवा द्रव्य में नहीं पाये जाते।

चेतना जीव की जानने, देखने, अनुभव करने की शक्ति है। इसी शक्ति के कारण जीव सुख-दुःख का अनुभव अथवा वेदन करता है तथा जानता और देखता है।

जीवित रहने के लिए जीव को प्राण धारण करना अनिवार्य है। प्राण दो प्रकार के हैं—(१) आन्तरिक, और (२) बाह्य।

जीव के आन्तरिक प्राण हैं—(१) ज्ञान, (२) दर्शन, (३) सुख, (४) वीर्य तथा बाह्य प्राण हैं—(१) श्रोत्रेन्द्रिय बलप्राण, (२) चक्षु इन्द्रिय बल-प्राण, (३) घ्राणेन्द्रिय बलप्राण, (४) रसनेन्द्रिय बलप्राण, (५) स्पर्शेन्द्रिय बलप्राण, (६) मनोबल प्राण, (७) वचनबल प्राण, (८) कायबल प्राण,

(९) श्वासोच्छ्वास बलप्राण, और (१०) आयु बल प्राण।

जीवों के दो प्रमुख भेद हैं—(१) संसारी और (२) मुक्त।

मुक्त जीवों में सिर्फ आन्तरिक प्राण—ज्ञान-दर्शन-सुख और वीर्य ही पाये जाते हैं, उनके बाह्य प्राण होते ही नहीं। बाह्य प्राण तो सिर्फ संसारी जीवों के ही होते हैं और उसमें भी यह आवश्यक नहीं कि सभी संसारी जीवों के दशों ही प्राण हों, कम भी हो सकते हैं।

इस कमी का प्रमुख कारण हैं—इन्द्रियाँ।

इन्द्रियों की अपेक्षा से संसारी जीव के पाँच भेद हैं—

(१) **एकेन्द्रिय जीव**—इनके सिर्फ स्पर्शन नाम की एक ही इन्द्रिय होती है। ये जीव पाँच प्रकार के हैं—(१) पृथ्वीकायिक, (२) जलकायिक, (३)

अग्नि (तेजस) कायिक, (४) वायुकायिक और (५) वनस्पतिकायिक ।

इनके और भी अवान्तर भेद हैं । इन्हें स्थावरकाय भी कहा गया है ।

स्थावर का अभिप्राय है—जो अपनी हित-बुद्धि से प्रेरित होकर हलन-चलन न कर सकें, धूप से छाया में न जा सकें । इन पाँचों प्रकार के जीवों में इस प्रकार की चेतनात्मक गति का अभाव है ।

किन्तु एकेन्द्रिय जीव भी सुख-दुःख का वेदन करते हैं, हर्ष और शोक प्रकट करते हैं, अवांछित व्यक्ति से भयभीत भी होते हैं । वनस्पतिकायिक जीवों अर्थात् पेड़-पौधों की संवेदना तो आधुनिक विज्ञान भी स्वीकार करता है । न्यूयार्क के प्रसिद्ध वैज्ञानिक डा० वेक्स्टर ने तो यहाँ तक सिद्ध कर दिया कि पेड़-पौधे मानव द्वारा बोले गये झूठ को

पकड़ सकते हैं और हत्यारों को भी पहचान सकते हैं।

आचारांग सूत्र में भी स्थावरकायिक जीवों मिट्टी आदि की संवेदनशक्ति का वर्णन भगवान् महावीर ने आज से २६०० वर्ष पहले ही कर दिया था।

यों जैन परम्परा लाखों वर्ष पूर्व ही पृथ्वी, जल वनस्पति आदि की सचेतनता और परमाणु शक्ति की प्रचंडता का वर्णन कर चुकी है।

दूसरे प्रकार के जीव त्रस कहलाते हैं। ये अपनी हित-बुद्धि से इधर-उधर गमन-आगमन किया करते हैं। ये विकलेन्द्रिय कहलाते हैं। इनके तीन भेद हैं—

(१) **द्वीन्द्रिय**—जिनके स्पर्शन और रसना — ये दो इन्द्रियाँ होती हैं। कृमि आदि दो इन्द्रिय जीव हैं।

(२) त्रीइन्द्रिय—चींटी आदि तीन इन्द्रिय वाले जीव हैं। इनके स्पर्शन, रसना और घ्राण, ये तीन इन्द्रियाँ होती हैं।

(३) चतुरिन्द्रिय—इनके स्पर्शन, रसना, घ्राण और चक्षु—ये चार इन्द्रियाँ होती हैं। बिच्छू आदि ऐसे ही जीव हैं।

इन तीनों विकलेन्द्रियों के अतिरिक्त पंचेन्द्रिय जीव होते हैं। इनके स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र—पाँचों इन्द्रियाँ होती हैं। किंतु मन की अपेक्षा इनके भी दो भेद हैं—(१) संज्ञी, जिनके मन है। मन का अभिप्राय चिंतन-मनन करने की शक्ति है। इसे आधुनिक वैज्ञानिक भाषा में छठी इन्द्रिय (Sixth sense) भी कहा जाता है।

(२) दूसरे प्रकार के जीव असंज्ञी होते हैं, जिनके मन-मननशक्ति का अभाव होता है। हाथी, घोड़ा, गाय, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि सभी संज्ञी

पंचेन्द्रिय हैं। इनके अतिरिक्त नारकी और देव भी संज्ञी पंचेन्द्रिय हैं।

व्यावहारिक दृष्टि से जीव के लक्षण हैं—(१) जीव परिणामी है, (२) कर्ता है, (३) अपने किये कर्मों का फलभोग करता है और (४) स्वदेह परिमाण है, अर्थात् जिस शरीर में जीव रहता है; उस सम्पूर्ण शरीर में उसकी चेतना व्याप्त रहती है।

२. अजीव तत्व

जैनदर्शन के अनुसार दूसरा तत्व अजीव तत्व है। अजीव तत्व वह है, जिसमें जीवन न हो, चेतना-शक्ति न हो।

अजीव तत्व के ५ भेद हैं—(१) पुद्गलास्तिकाय, (२) धर्मास्तिकाय, (३) अधर्मास्तिकाय, (४) काल, और (५) आकाशास्तिकाय। इनमें से पुद्गलास्तिकाय रूपी है और शेष ४ अरूपी। रूपी का अभिप्राय है— जिसमें (१) स्पर्श, (२) रस,

(३) गन्ध और (४) वर्ण (रंग) ये चार गुण हों

संसार की यह विचित्रता है कि जीव विशुद्ध रूप में कहीं नहीं प्राप्त होता, सर्वत्र यह पुद्‌गल (matter) के साथ ही पाया जाता है। अतः आवश्यक है कि जीव और पुद्‌गल के भेद को समझ लिया जाय। इससे स्थिति अधिक स्पष्द हो जायेगी। दोनों (जीव और पुद्‌गल) के गुण धर्म तथा लक्षण साफ-साफ समझ में आ जायेंगे।

आधुनिक विज्ञान ने जीव के निम्न लक्षण स्वीकार किये हैं—

(१) उसमें प्रजनन शक्ति (Generating Power) हो, अर्थात् वह सन्तति उत्पादन के योग्य हो।

(२) उसमें स्वयमेव वृद्धि (Growth) की क्षमता हो।

(३) आहार ग्रहण करता हो ।

(४) विसर्जन (Excretion) करता हो ।

(५) जागता हो ।

(६) नींद लेता हो ।

(७) परिश्रम करता हो—बिना किसी अन्य उर्जा के वह क्रियाशील रह सके ।

(८) आत्म-रक्षा के लिए प्रयास करता हो ।

(९) थकान महसूस करता हो ।

(१०) विश्राम की आवश्यकता अनुभव करता हो, और

(११) भय, आशा, सुख-दुःख, हर्ष-विषाद आदि की अनुभूति उसे होती हो ।

यह सभी लक्षण जीव तत्व के हैं और जिसमें ये लक्षण न पाये जायें, वह अजीव तत्व है ।

दृश्य अथवा रूपी अजीव तत्व पुद्गल है; जिसे

विज्ञान matter कहता है। लोहा, सोना आदि सभी धातुएँ, वृक्ष से अलग हुई लकड़ी आदि जितने भी पदार्थ हम देखते हैं, उपयोग में लेते हैं, वे सभी पुद्गल अजीव हैं।

यहाँ तक कि समाचार-पत्र-पत्रिकाएँ जिन्हें हम पढ़ते हैं, वे जिस कागज पर और जिस स्याही से छपते हैं, वे सब भी पुद्गल द्रव्य हैं। पुद्गल द्रव्य से हमारा प्रत्यक्ष सम्पर्क क्षण-प्रतिक्षण पड़ता है।

अजीव तत्व के पुद्गल के अतिरिक्त अन्य ४ भेद और हैं। वे हैं—(१) धर्मास्तिकाय, (२) अधर्मास्तिकाय, (३) आकाशास्तिकाय और (५) काल।

धर्मास्तिकाय

द्रव्य के रूप में धर्म शब्द का अभिप्राय उस धर्म से भिन्न है जिसे हम आचार और सिद्धान्त के

रूप में समझते हैं। यहाँ धर्म का अभिप्राय है—गति सहायकत्ता (Fulcrum of Motion)

धर्म, अधर्म, आकाश, काल और जीव एवं पुद्‌गल—इन छह द्रव्यों में केवल जीव और पुद्‌गल ही गतिशील हैं। वे ही एक स्थान से दूसरे स्थान को गमनागमन क्रिया करते हैं। उनकी इस गमन क्रिया में धर्मद्रव्य उदासीन रूप से सहायक होता है। उसी प्रकार जैसे जल मछली की गति में सहायक होता है।

यह सत्य है कि गमन शक्ति स्वयं मछली में है किन्तु उस शक्ति की अभिव्यक्ति जल के बिना नहीं हो पाती। इसी प्रकार गमन-शक्ति स्वयं जीव और पुद्‌गल में अवश्य है किन्तु इस शक्ति की अभिव्यक्ति के लिए धर्मद्रव्य की सहायता आवश्यक है।

धर्मास्तिकाय का अस्तित्व वैज्ञानिकों ने भी

स्वीकार कर लिया है। वे भी गतिसहायक द्रव्य आवश्यक मानते हैं। उन्होंने यह स्वीकार किया है, इस विश्व में Ether नाम का एक तत्व है, जो प्रत्येक वस्तु यहाँ तक कि ध्वनि तरंगों, विद्युत् तरंगों और रेडियो तरंगों की गति में आवश्यक है। इस तत्व Ether के अभाव में ये तरंगें गति नहीं कर सकतीं।

लेकिन धर्म द्रव्य गति का उदासीन सहायक है। वह जीव अथवा पुद्गल को गति करने के लिए प्रेरित नहीं करता; हाँ, यदि वे स्वयं चलने की क्रिया करें तो वह सहायक हो जाता है।

यही स्थिति वैज्ञानिक मान्यता प्राप्त ईथर की है।

अधर्मास्तिकाय

इसका कार्य धर्मद्रव्य अस्तिकाय के विपरीत है। यह जीव और पुद्गल को स्थिर होने में, ठहर में उदासीन सहायक होता है। ठीक उसी प्रकार

जैसे मार्गश्रम से थके हुए यात्री को वृक्ष की शीतल छाया सहायक होती है।

छाया मानव को रुकने के लिए बाध्य नहीं करती; किन्तु यदि यात्री स्वयं ही ठहरना चाहे तो वह सहायक अवश्य हो जाती है।

पक्षी उड़ता-उड़ता रुक जाता है, मनुष्य चलता-चलता विश्राम के लिए ठहर जाता है, इन सब स्थिति (ठहराव) में मुख्य कारण उनकी अन्तर् इच्छा तथा सहायक कारण अधर्मास्तिकाय बनती है।

महत्व

धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य संसार की व्यवस्था के लिए बहुत ही आवश्यक हैं। धर्मद्रव्य के अभाव में संसार की सारी गति-विधियाँ ही रुक जायेंगी। समस्त हलन-चलन बंद हो जायेगा। न पवन चल सकेगा, न सागर में उर्मियाँ-तरंगें ही उछल सकेंगी,

बादल इधर से उधर न जा सकेंगे, उनका निर्माण ही न होगा।

एटम में जो न्यूट्रान के चारों ओर इलेक्ट्रान और प्रोट्रान अत्यन्त तीव्रगति के चक्कर लगा रहे हैं, वे वहीं के वहीं स्थिर हो जायेंगे, तत्वों में परिवर्तन न हो सकेगा तो उनकी संरचना गड़बड़ा जायेगी। एरोप्लेन, ट्रेन, कार आदि सभी स्थिर हो जायेंगे।

यहाँ तक कि मानव की पलकें खुली होंगी तो खुली ही रह जायेंगी और बंद होंगी तो हमेशा बन्द ही रहेंगी।

इस प्रकार सारी सृष्टि ही जड़ (Stand still) हो जायेगी।

और अधर्मद्रव्य न हो तो इससे विपरीत स्थिति होगी, संसार की कोई भी वस्तु स्थिर न होगी, भागती ही रहेगी।

दोनों ही स्थितियों के परिणाम भयावह होंगे। अतः यह दोनों द्रव्य सृष्टि का संतुलन बनाये हुए

हैं। इन्हीं के कारण गति और स्थिति में सामंजस्य है और संसार की सारी व्यवस्था सुचारु रूप से चल रही है।

लोक-व्यवस्था में इनका महत्व यह है कि यह लोक और अलोक की सीमा का निर्धारण करते हैं। जहाँ तक धर्म और अधर्म द्रव्य हैं वहाँ तक लोक है और उसके आगे अनंत अलोकाकाश है, जहाँ सिर्फ आकाश ही है, अन्य कोई द्रव्य नहीं है।

आकाशास्तिकाय

आकाश ऐसा द्रव्य है जो सभी द्रव्यों को अवकाश-स्थान देता है। पुद्गल, जीव, धर्म, अधर्म, काल—ये सभी द्रव्य आकाश में ही अवस्थित हैं।

आकाश द्रव्य सर्वव्यापक है। विभिन्न वस्तुओं के मध्य जो खाली स्थान हमें दिखाई देता है, वहाँ भी आकाश है। वैज्ञानिकों ने आकाश के लिए Space शब्द दिया है। यह स्पेस अन्तरिक्ष आदि में भी है।

आकाश अन्य सभी द्रव्यों से विस्तृत और विशाल है। अन्य पाँचों द्रव्य तो लोक तक ही सीमित हैं, किन्तु आकाश अनन्त अलोक में भी व्याप्त है। अलोक में सिर्फ आकाश ही है।

इस अपेक्षा से आकाश के दो भेद माने गये हैं—(१) लोकाकाश और (२) अलोकाकाश। लोकाकाश में आकाश सहित छह द्रव्य हैं; जबकि अलोकाकाश में आकाश के अतिरिक्त अन्य कोई द्रव्य नहीं है। लोकाकाश की अपेक्षा अलोकाकाश अनन्त गुणा है।

काल

काल का अर्थ समय (Time) है। निश्चय और व्यवहार की अपेक्षा इसके दो भेद हैं। निश्चय काल एक समय मात्र है। यह संपूर्ण लोकाकाश में रत्न राशि के समान अवस्थित है।

इसके अणु समुच्चय रूप में नहीं हैं, इसीलिए इसे अस्तिकाय नहीं माना गया; क्योंकि अस्तिकाय उसी द्रव्य को कहा गया है जिसके प्रदेश अथवा परमाणु समुच्चय रूप हों।

व्यवहार काल ढाई द्वीप अथवा मनुष्य क्षेत्र प्रमाण है। इसकी गणना भी 'समय' से की गई है और असंख्यात समयों की एक आवलिका होती है जो आधुनिक युग में प्रचलित समय की सबसे छोटीक इकाई सैंकिड का असंख्यातवाँ भाग है। आवलिका से आगे बढ़ते-बढ़ते घड़ी, मुहूर्त, प्रहर, अहोरात्र, ऋतु, अयन, वर्ष और युग तक की गणना की जाती है तथा संख्यात वर्षों तक यह गणना आगे बढ़ती है।

इसके उपरान्त पल्योपम और सागरोपम उपमाकाल है। जिसकी गणना उपमा से की गई है, वह उपमाकाल कहा गया है।

काल द्रव्य के कार्य हैं—(१) वर्तना, (२) परिणाम, (३) क्रिया (४) परत्व—अपरत्व।

वर्तना—प्रत्येक पदार्थ की पर्याय बदलने में काल निमित्त बनता है, उसे बर्तना कहा जाता है। परिणाम का अभिप्राय प्रत्येक द्रव्य के परिणमन

में सहायक बनना। काल प्रत्येक क्रिया में भी निमित्त बनता है।

परत्व-अपरत्व का अभिप्राय है—आगे-पीछे, ज्येष्ठत्व-कनिष्ठत्व। इसी के आधार पर वस्तु को नई-पुरानी कहा जाता है। बड़े-छोटे, नये-पुराने आदि सभी व्यवहारों का आधार काल है।

विज्ञान पहले प्रत्येक वस्तु की तीन विमा (Dimensions) मानता था—(१) लम्बाई, (२) चौड़ाई और (३) मोटाई (length, breadth and thickness) किन्तु अब कुछ वर्षों से चौथी विमा (Dimension) काल (Time) को भी मानने लगा है, तभी Carbon dating प्रणाली आदि का आविष्कार हुआ जिसके आधार पर वैज्ञानिक ढंग से कोई वस्तु कितना पुरानी है, इसका समय निर्धारण संभव हो सका। आज पृथ्वी, ज्वालामुखी तथा अनेक लुप्तप्राय जीवों के अश्मों (अस्थि पिंजरों) की करोड़ों अरबों वर्ष पुरानी गणना की जाती है, उसका मुख्य आधार काल द्रव्य ही है।

जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म आकाश और काल—ये छह द्रव्य सृष्टि के अनिवार्य घटक हैं, जिनके आधार पर समस्त संसार की स्थिति है और यह संसार अर्थात् लोक अनादिकाल से है, वर्तमान में है तथा भविष्य में रहेगा ।

आगे जो आस्रव, संवर, पुण्य, पाप आदि तत्वों का वर्णन किया जा रहा है, उनके आधार भी जीव और अजीव—यह दो तत्व हैं ।

३. आस्रव तत्व

संसारी जीव के मन-वचन-काय —ये तीन योग होते हैं । इन तीनों योगों से वह शुभाशुभ प्रवृत्तियाँ स्वयं करता है, किसी अन्य को आज्ञा अथवा प्रेरणा देकर करवाता है और किसी अन्य द्वारा किये गये कार्य की प्रशंसा अथवा अनुमोदना करता है ।

जीव की यह सभी प्रवृत्तियाँ राग अथवा द्वेष मिश्रित होती हैं । इनके कारण पुद्गल वर्गणाएँ

आर्कषित होती हैं, जीव अथवा आत्मा के साथ एकाकार होने में प्रयत्नशील बनती हैं। कर्मपुद्गलों का आना ही आस्रव है।

यह आस्रव मुख्य रूप से पाँच प्रकार का है—मिथ्यात्व आस्रव, (२) अविरति आस्रव, (३) प्रमाद आस्रव, (४) कषाय आस्रव, और (५) योग आस्रव।

यों विस्तार से इसके १७, २० और ५६ भेद भी हैं।

४. संवर तत्व

यह तत्व आस्रव का विरोधी है। आते हुए कर्मों का रुक जाना, संवर है। इसके भी आस्रव के प्रतिपक्षी पाँच प्रमुख भेद हैं—

(१) सम्यक्त्व संवर, (२) विरति संवर, (३) अप्रमाद संवर, (४) अकषाय संवर, (५) अयोग संवर।

इनके अतिरिक्त १७, २० और ५६ भेद भी हैं।

५. बन्ध तत्व

आस्रव अर्थात् आते हुए कर्मों—कर्मपुद्गलों का आत्मा के साथ एकक्षेत्रावगाह हो जाना, चिपक जाना, एकमेक हो जाना, बँध जाना, बंध है।

इसके चार भेद हैं—(१) प्रकृति, (२) प्रदेश, (३) अनुभाव, और (४) स्थिति।

जो कर्मपुद्गल आत्मा से बंधते हैं उनकी जो सम्पूर्ण प्रदेश राशि होती है, वह प्रदेशबंध है। उसमें ज्ञान दर्शन को आवरण करने का, सुख-दुःख देने का आदि कई प्रकार का स्वभाव निर्मित होता है, वह प्रकृतिबन्ध है। वे कर्मपुद्गल आत्मा के साथ कितने समय तक लगे (चिपके) रहेंगे, उस काल मर्यादा को स्थितिबन्ध कहा गया है और कर्मों की रस अथवा फल-प्रदान-शक्ति तीव्रता-मन्दता आदि अनुभाव बंध है। अनुभावबन्ध को ही रसबन्ध—अनुभाग बंध कहा गया है।

परम्परागत रूप से इसके लिए मोतीचूर के

लड्डू का दृष्टान्त दिया जाता है। लड्डू का छोटा बड़ा होना प्रदेश बन्ध का उदाहरण है। वायु-नाशक, पित्तनाशक आदि स्वभाव प्रकृतिबंध को द्योतित करता है। मीठा, तीखा आदि रसबन्ध है और यदि इन मोदकों का प्रयोग न किया जाय तो एक निश्चित समय बाद स्वयं ही बिखर जायेंगे— उनके दाने (मोती) अलग-अलग हो जायेंगे, यह स्थितिबंध को दर्शाता है।

यों बंध की चारों स्थितियों की मानव शरीर के साथ भी तुलना की जा सकजी है। भोजन की पित्त, कफ आदि रूप में परिणति प्रकृतिबंध, रक्त मांस आदि का उपचय प्रदेशबंध, धातु आदि रूप में परिणति रस या अनुभाव बंध, उम्र की बढ़त के साथ शरीर की आयु धारणा, स्थिति, स्थितिबंध के समान समझा जा सकता है।

इसके अतिरिक्त प्रगाढ़ता की अपेक्षा भी बंध के चार भेद हैं—

(१) **बद्ध**—यह साधारण बंध है, उदाहरणत: सुइयों का एक स्थान पर एकत्र हो जाना। सघनता की स्थिति।

(२) **स्पृष्ट**—आत्मा के साथ कर्म-पुद्गलों का संश्लिष्ट हो जाना। जैसे—सुइयों को धागे से बाँध दिया जाता है।

(३) **बद्ध-स्पृष्ट**—इस दशा में आत्म-प्रदेश और कर्मपुद्गल दूध पानी के समान एकमेक हो हो जाते हैं। उदाहरणत: सुइयों को लोहे के तार से बाँध देना।

(४) **निधत्त**—आत्म-प्रदेशों और कर्मपुद्गलों का अत्यन्त प्रगाढ़ सम्बन्ध हो जाना। यथा—सुइयों को अग्नि में तपाकर फिर हथौड़े से पीट देना।

यह अत्यन्त प्रगाढ़ बंध है। इसका फल आत्मा को भोगना ही पड़ता है।

६. पुण्य तत्व

पुण्य, उसे कहा जाता है जो आत्मा को पुनीत-पवित्र करता है। इसका बंध मन-वचन-काय की शुभ क्रियाओं से होता है। पुण्य का लौकिक फल मीठा—आत्मा के अनुकूल होता है।

प्रमुख रूप से पुण्य के दो भेद हैं—(१) पुण्यानुबंधी पुण्य और (२) पापानुबंधी पुण्य।

पुण्यानुबंधी पुण्य, पुण्य की परम्परा को आगे बढ़ाता है और क्रमशः उन्नति करता हुआ जीव मोक्ष भी पा लेता है। किन्तु पापानुबंधी पुण्य इसके विपरीत है। पुण्य के फलस्वरूप आत्मा सुख भोगते हुए इन्द्रिय विषयों, कषायों की ओर प्रवृत्त हो जाता है तो पाप कर्मों का बंध करके पतित हो जाता है। ऐसा पुण्य पाप की परम्परा को बढ़ाता है। पुण्यबंध ९ प्रकार से होता है—

(१) **अन्न पुण्य**—पात्र को शुभ भावों से भोजन देने से।

(२) **पानपुण्य**—पात्र की शुभ भावों से जल आदि द्वारा तृषा तृप्त करने से।

(३) **लयनपुण्य**—जरूरतमन्द को अनुकम्पा-पूर्वक स्थान देने से।

(४) **शयन पुण्य**—पात्र (व्यक्ति) को विश्राम स्थल देने से।

(५) **वस्त्रपुण्य**—जरूरतमन्द को दयापूर्वक वस्त्र-दान करने से।

(६) **मन पुण्य**—मन में प्राणीमात्र के प्रति शुभ भावना रखने से।

(७) **वचन पुण्य**—वचन से गुणीजनों का कीर्तन करने से तथा हित मित पथ्य वचन बोलने से और सभी के साथ मधुर वाणी के प्रयोग से।

(८) **कायपुण्य**—शरीर द्वारा सेवा करने से।

(९) **नमस्कार पुण्य**—सबके साथ विनम्रतापूर्ण व्यवहार करने से।

७. पाप तत्व

पापतत्व, पुण्यतत्व का बिरोधी है। यह आत्मा को पतित करता है। इसका लौकिक—सांसारिक फल भी कड़वा है। इष्ट वियोग, अनिष्ट संयोग, शोक, दुःख, रोग आदि पाप के फलस्वरूप ही व्यक्ति को भोगने पड़ते हैं। धनहानि, दरिद्रता आदि भी इसी पाप का परिणाम है।

पाप का बंध १८ प्रकार से होता है अथवा १८ पापस्थानक हैं—

(१) **प्राणातिपात**—जीवों का घात करने से।

(२) **मृषावाद**—असत्य भाषण से।

(३) **अदत्तादान**—चोरी से।

(४) मैथुन सेवन से।

(५) परिग्रह में आसक्ति और ममत्वभाव रखने से।

(६) क्रोध करने से,

(७) मान (अभिमान) से,

(८) छल-कपट,

(९) लोभ-तृष्णा,

(१०) राग-सांसारिक पदार्थों पर राग-आसक्ति,

(११) द्वेष—पदार्थों के प्रति ईर्ष्या, घृणा, द्वेष,

(१२) कलह,

(१३) अभ्याख्यान—मिथ्यादोषारोपण,

(१४) पैशुन्य—चुगली,

(१५) परपरिवाद—दूसरों की निन्दा, उनमें जो दोष नहीं हों, वैसे दोष लगाना, उनका प्रचार करना,

(१६) रति—भोगों की ओर आकर्षण, प्रीति; अरति, संयम से उद्वेग ।

(१७) मायामृषावाद--कपट सहित झूठ बोलना और,

(१८) मिथ्यादर्शन शल्य ।

इन अठारह प्रकार से पाप का बंध होता है ।

८. निर्जरा तत्व

निर्जरा का अभिप्राय है—आत्मा के साथ जो कर्म बँधे हुए हैं, उनका आंशिक रूप से झड जाना, खिरना, अलग हो जाना।

निर्जरा दो प्रकार से होती है—(१) इच्छा-पूर्वक और (२) अनिच्छापूर्वक।

अनिच्छा से निर्जरा वह होती है, जिसके लिए आत्मा को कोई प्रयास नहीं करना पड़ता, बँधे हुए कर्म फल देकर तथा स्थिति पूर्ण होते ही स्वयं ही झड़ जाते हैं, यह अकाम निर्जरा है।

सकाम निर्जरा सप्रयास होती है। आत्मा तपस्या आदि विभिन्न प्रकार के धार्मिक अनुष्ठानों से कर्मों को क्षय कर देता है। इस प्रकार से कर्म-क्षय को सकाम निर्जरा कहा जाता है।

अविपाक—सविपाक आदि इन्हीं निर्जराओं के अन्य नामहैं।

निर्जरा का सर्वप्रमुख हेतु तप है। तप के दो भेद हैं—(१) बाह्य और (२) आभ्यन्तर।

बाह्य तप वे हैं जिनका प्रभाव बाहर दिखाई देता है। यह छह हैं—(१) अनशन, (२) ऊनोदरी (३) भिक्षाचर्या (अथवा वृत्तिपरिसंख्यान), (४) रसपरित्याग, (५) कायक्लेश और (६) प्रतिसंलीनता।

आभ्यन्तर तप हैं—(१) प्रायश्चित्त, (२) विनय, (३) वैयावृत्य, (४) स्वाध्याय, (५) ध्यान और (६) व्युत्सर्ग। इन बारह प्रकार के तपों से विशिष्ट कर्मनिर्जरा होती है।

९. मोक्ष तत्व

मोक्ष, आत्मा का चरम लक्ष्य है और जैनदर्शन द्वारा कथित अन्तिम तत्व भी है।

मोक्ष वह स्थिति है, जिसे प्राप्त करने के बाद आत्मा को पुनर्जन्म नहीं लेना पड़ता, वह संसार परिभ्रमण के चक्र से छूट जाता है।

मोक्ष प्राप्ति के लिए आत्मा को सम्यग्ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप की आराधना आवश्वक है।

ज्ञान से आत्मा भावों (सर्व . द्रव्य-पर्याय-तत्वों) को जानता है, दर्शन से उन पर श्रद्धा (विश्वास) करता है; तथा चारित्र और तप से कर्मों का क्षय करके शुद्ध परिशुद्ध हो जाता है।

आत्मा स्वभावत: दर्शन, ज्ञान, चारित्र, अनन्त सुख-वीर्य आदि अनेक गुणों का आगार और उर्ध्वगमन स्वभाव वाला है।

कर्मों का सम्पूर्ण रूप से क्षय होते ही आत्मा अग्निशिखा के समान सीधा ऊपर की ओर गमन करता है, लोकाग्र भाग में, जहाँ सिद्धशिला है, वहाँ अवस्थित हो जाता है और शाश्वत एवं अव्याबाध सुख में लीन हो जाता है।

आत्मा की यह अवस्था शाश्वत है, सदाकाल रहने वाली है।

यही आत्मा का चरम लक्ष्य है, प्रत्येक भव्य आत्मा इसी स्थिति में पहुँचने के लिए प्रयत्नशील रहती है।

उपसंहार

जैन धर्म-दर्शन द्वारा वर्णित यह नव तत्त्व जीव की सम्पूर्ण यात्रा का अथ से इति तक ज्ञान तो कराते ही हैं, साथ ही छह द्रव्य की व्यवस्था द्वारा सृष्टि के स्वरूप का भी युक्तियुक्त विवेचन करते हैं। इनके अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि संसार का आधार क्या है, तथा इसकी रचना किसी व्यक्ति अथवा शक्ति ने किसी एक निश्चित समय में नहीं की अपितु यह अनादिकाल से इसी प्रकार है और इसी प्रकार अनन्तकाल तक रहेगा। इस विश्व का कोई भी निर्माणकर्ता अथवा विध्वंसकर्ता नहीं है।

आस्रव, बंध, पुण्य और पाप तत्व—इस तथ्य को स्पष्ट रूप से व्यक्त करते हैं कि आत्मा स्वयं ही

अपने प्रमाद, असावधानी, कषाय, राग-द्वेष आदि के कारण कर्म बंध करता है और अपने ही कर्मों के फलस्वरूप दु:ख अथवा सुख पाता है। संसार की कोई अन्य शक्ति उसे सुख या दु:ख दे नहीं सकती और न ही उसके पापों के लिए उसे क्षमा प्रदान कर सकती है।

संबर, निर्जरा तत्व इस तथ्य के द्योतक हैं कि आत्मा यदि पुरुषार्थ करे तो कर्मों के निबिड़ बंधन को तोड़कर मोक्ष प्राप्त कर सकती है। अनन्तज्ञान, दर्शन, सुख-वीर्य आदि अपने निज गुणों को प्रकट कर सकती है।

इन नव तत्त्वों के अध्ययन-मनन-चिन्तन और हृदयंगम करने का सबसे बड़ा लाभ यह है कि प्रत्येक संसारी मानवात्मा अपनी सत्य स्थिति से परिचित हो जाती है, अपनी शक्तियों का उसे भान हो जाता है और उसमें सत्यश्रद्धा, विवेक तथा

पुरुषार्थ की ज्योति जाग्रत हो जाती हैं और अपने बल, वीर्य के संबल से वह दृढ़तापूर्वक आत्मोन्नति की दिशा में प्रगति करता हुआ अपने चरम लक्ष्य—सिद्धि—मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।

□

૮ ૧
૨ ૬
૩ ૯
૭ ૪
૫
૯ ૬
૭ ૮
૨ ૩
૧ ૪
૯
૮ ૧૦ ૨
૪